अध्याय-17

श्रद्धात्रयविभागयोग-नामक 17वाँ अ0।।

[1-6 श्रद्धा का और शास्त्रविपरीत घोर तप करने वालों का विषय]

अर्जुन उवाचः-ये शास्त्रविधिं उत्सृज्य यजन्ते श्रद्धया अन्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वं आहो रजः तमः।। 17/1

कृष्ण तु ये श्रद्धया अन्विताः	हे आकर्षणमूर्त शिवबाबा! किंतु जो श्रद्धा {भक्ति भाव} से भरे {मनमत या परमत पर}
शास्त्रविधिं उत्सृज्य यजन्ते तेषां	सच्चीगीता-संविधान को छोड़कर {बेसमझी पूर्वक स्वाहा-2 की} यज्ञसेवा करते हैं, उनका
निष्ठा सत्त्वमाहो रजः तमः का	श्रद्धाभाव {पुरुषोत्तम संगम में} सात्विक, राजसी या तामसी, कौनसा {शूटिंग का} होता है?

श्रीभगवानुवाचः-त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी च इति तां शृणु।। 17/2

देहिनां स्वभावजा सा श्रद्धा सात्त्विकी राजसी	देहधारियों के स्वभाव से पैदा वह श्रद्धाभावना सात्त्विकी, राजसी
च तामसीति त्रिविधैव भवति तां च शृणु	और तामसी- ऐसे {युगानुकूल क्रम से} 3 प्रकार की ही होती है, उसे और सुन।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयः अयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।। 17/3

भारत सर्वस्य श्रद्धा	हे {विष्णु/} भरतवंशी अर्जुन! सबका श्रद्धा-विश्वास {पु. संगमयुगी शूटिंग से ही}
सत्त्वानुरूपा भवत्ययं पुरुषः यः	प्राणी-{स्वभाव} के अनुरूप होता है। यह पुरुष जो {पूर्व जन्मानुसार भी}
श्रद्धामयः यच्छ्रद्धः स सः एव	{जैसी} श्रद्धायुक्त होता है, जो श्रद्धा{-विश्वास} है, वह वैसा ही {शूटिंग में ही बनता} है।

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः। प्रेतान् भूतगणान् च अन्ये यजन्ते तामसा जनाः।। 17/4

सात्त्विकाः देवान् राजसाः	सत्वगुणी लोग {सतयुगी} देवताओं को, {द्वैतवादी द्वापुर से विधर्मी} राजसी लोग

यक्षरक्षांसि अन्ये तामसा जनाः	{त्रेता-द्वापर के} यक्ष-राक्षसों को {और} दूसरे {कलाहीन कलियुगी} तामसी लोग
प्रेताश्च भूतगणान् यजन्ते	{तान्त्रिकों-मांत्रिकों,घोरकर्मियों,सूक्ष्मशरीरी} भूत-प्रेतों के समुदाय को पूजते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः। दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।। 17/5

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामं अचेतसः। मां चैव अन्तःशरीरस्थं तान् विद्धि आसुरनिश्चयान्।। 17/6

ये जनाः अशास्त्रविहितं घोरं	जो लोग सच्ची गीता-शास्त्र {संविधान} रहित {शुक्र जैसा} घोर {शारीरिक कष्टदायी}
तपः तप्यन्ते दंभाहंकारसंयुक्ताः	{असह्य} तप करते हैं, {वे 7 कुल पर्वतों में विंध्यवाली ऊँचाई के} घमण्ड, अहंकारयुक्त,
कामरागबलान्विताः अचेतसः शरीरस्थं	कामना, आसक्ति व बाहुबल से भरे बेसमझ लोग शरीरस्थ {धरणीमाँ-जल-
भूतग्रामं चान्तः शरीरस्थं मामेव	क्षित्यादि} पंचभूत-समूह और अंतर्देह में स्थित मुझ {योगऊर्जा} को भी {बौद्धिक -
कर्शयन्तः तानासुरनिश्चयान् विद्धि	मानसिक} कष्टदाई हैं। {तू }उनको {कलियुगी तामसप्रधान} आसुरी निश्चय वाला समझ।

[7-22 आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक्-पृथक् भेद।]

आहारः तु अपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः। यज्ञः तपः तथा दानं तेषां भेदं इमं शृणु।। 17/7

सर्वस्य प्रियः आहारोऽपि त्रिविधः	सब {मनुष्यों} का प्रिय भोजन भी {सत्व, रज, तामसी} 3 प्रकार का {स्वभाव से}
भवति यज्ञस्तपस्तथा दानं	{निश्चित} होता है। यज्ञ{सेवा, आत्मबिंदु का स्मृतिरूप} तप व {तन, धनादि का} दान
तु तेषां इमं भेदं शृणु	और उन {यज्ञतपादि} के इस {नीचे बताए गए अनेक प्रकार के} भेद को {भी ध्यान से} सुन।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः आहाराः सात्त्विकप्रियाः।। 17/8

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीति-	आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख, {धर्मानुकूल आपसी इन्द्रियों के} प्रेमभाव

विवर्धना: हृद्या: स्निग्धा: रस्या:	{के सुख} विशेष को बढ़ाने वाले, {हृदय को} रुचिकर, {आँतों के रक्षक} चिकने, रसीले,
स्थिरा आहारा: सात्त्विकप्रिया:	{दीर्घ काल} स्थिर रहने वाले भोजन {नं.वार} सात्विक {देव} आत्माओं को {अधिक} प्रिय हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन:। आहारा राजसस्य इष्टा: दु:खशोकामयप्रदा:।। 17/9

कट्वम्ललवणात्युष्ण विदाहिन:	कड़ुवे, खट्टे, नमकीन, अति गरम, अति दाहयुक्त, {उत्तेजना को बढ़ाने वाले}
तीक्ष्ण रूक्ष आहारा: राजसस्य	तीखे, रूखे आहार {द्वैतवादी द्वापरयुग से वासना-वर्धक} रजोगुणी लोगों के
इष्टा: दु:खशोकामयप्रदा:	प्रिय हैं {और वे सभी आहार द्वापुर से ही} दु:ख, शोक और रोग पैदा करते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टं अपि च अमेध्यं भोजनं तामसप्रियं।। 17/10

यातयामं गतरसं पर्युषितं अमेध्यं	नष्टकालीन आहार, {खाने में} स्वादहीन, बासी, अपवित्र, {अचार
पूति च उच्छिष्टं भोजनं तामसप्रियं	जैसा} सड़ा हुआ और जूठा भोजन तामसी {वर्णसंकर} लोगों को प्रिय है।

अफलाकाङ्क्षिभि: यज्ञ: विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यं एव इति मन: समाधाय स सात्त्विक:।। 17/11

अफलाकांक्षिभि: विधिदृष्ट:	{दुनियावी किसी} फल की कामना-रहित के द्वारा, गीता-विधान द्वारा {अच्छे-से} समझा हुआ
यष्टव्यमेवेति मन: समाधाय	{और अनिवार्यत: } यज्ञसेवा करना ही है- ऐसे मन का {सच्ची गीता-मत से} समाधान करके
य यज्ञ: इज्यते स सात्त्विक:	जो {कल्याणकारी} यज्ञसेवा की जाती है, वह {शिवबाबा की मतप्रमाण} सात्विक सेवा है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थं अपि चैव यत्। इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसं।। 17/12

तु भरतश्रेष्ठ फलं अभिसंधाय	किन्तु, हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! {इस पुरुषोत्तम संगमयुगी जीवन में ही} फल का लक्ष्य लेकर,
चैव दम्भार्थमपि यत्	ऐसे ही {सांसारिक} अभिमानार्थ भी जो {यज्ञसेवा समाज में अपना बढ़प्पन दिखाने के लिए}

इज्यते तं यज्ञं राजसं विद्धि	की जाती है, उस यज्ञसेवा को {द्वैतवादी दैत्यों की कर्मेन्द्रिय प्रधान} रजोगुणी सेवा जान।

विधिहीनं असृष्टान्नं मन्त्रहीनं अदक्षिणं। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।। 17/13

विधिहीनं असृष्टान्नं	{एडवांस सच्ची} गीता-संविधानरहित, ब्रह्माभोजन से रहित, {गीता के 9-34 में वर्णित 'मन्मनाभव'}
मन्त्रहीनं अदक्षिणं श्रद्धाविरहितं	मंत्र से रहित, {रुद्रयज्ञ के निमित्तों प्रति} सम्मानहीन {तथा} श्रद्धा {भावना} विहीन
यज्ञं तामसं परिचक्षते	{रुद्रज्ञान} यज्ञ-{सेवाकार्य को खास पापी कलियुग की शूटिंग में} तामसी कहा जाता है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचं आर्जवं। ब्रह्मचर्यं अहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। 17/14

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचं	{पु .संगम के संसार में गुरुता प्राप्त} देव, द्विज, गुरु, विशेष ज्ञानी का पूजन, शुद्धता,
आर्जवं ब्रह्मचर्यं च अहिंसा	सरलता, {मन-वचन & कर्म से भी} ब्रह्मचर्य और {श्रेष्ठ या क्षुद्र प्राणी की भी} हिंसा न करना
शारीरं तप: उच्यते	दैहिक तप कहा जाता है। {मन-बुद्धि से स्टारात्मा की एकाग्रता का तप अलग बात है।}

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।। 17/15

अनुद्वेगकरं सत्यं वाक्यं यत् प्रिय	{अपनों-परायों को} उत्तेजित न करने वाली {मिठासभरी} सत्य बात {कहना}, जो प्रिय
च हितं च एव स्वाध्यायाभ्यसनं	और हितकारी हो। ऐसे ही आत्मा {के अपने जन्मों के} अध्ययन का {नित्य} अभ्यास,
वाङ्मयं तप उच्यते	{मन रूप उच्चै:श्रवा और वाग्देवी सरस्वती माता की प्रसन्नता के लिए} वाणी का तप कहा जाता है।

मन:प्रसाद: सौम्यत्वं मौनं आत्मविनिग्रह:। भावसंशुद्धि: इति एतत् तप: मानसं उच्यते।। 17/16

मन: प्रसाद: सौम्यत्वं मौनं	मन की प्रसन्नता, {आत्मिक} शांतभाव, {चंचल मन के संकल्पों से भी सदा} मौन,
आत्मविनिग्रह: भावसंशुद्धि:	{ज्योतिबिंदु} आत्मा का विशेष संयम, {ज्ञानयुक्त} मनोभावों={संकल्पों} की विशेष शुद्धि-
इत्येतत् मानसं तप:उच्यते	यह इतना {भ्रूमध्य में स्थित स्टार रूप आत्मा की स्मृति का} मानसिक तप कहा है।

श्रद्धया परया तप्तं तपः तत् त्रिविधं नरैः। अफलाकाङ्क्षिभिः युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।। 17/17

अफलाकांक्षिभिर्युक्तैर्नरैः	{किसी सांसारिक} फल की आकांक्षा से रहित, {शिवबाबा से अव्यभिचारी} योगयुक्त लोगों द्वारा
परया श्रद्धया तप्तं तत्	परमश्रद्धा पूर्वक तपाया गया वह {पुरुषोत्तम संगमयुग में निष्पादित मन-वचन-कर्म से}
त्रिविधं तपः सात्त्विकं परिचक्षते	3 तरह का {अटल सत्य सनातनी देवात्माओं का} तप सात्विक कहलाता है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्। क्रियते तत् इह प्रोक्तं राजसं चलं अध्रुवं ।। 17/18

सत्कारमानपूजार्थं च एव दंभेन	मान-सम्मान एवं पूजा कराने लिए तथा अभिमान से {समाज में दिखावामात्र}
यत् चलमध्रुवं तपः क्रियते	जो अल्पकालीन, अस्थायी {कर्मेन्द्रियों से भाग-दौड़ादि का कष्टादाई दैहिक} तप किया जाता है,
तत् इह राजसं प्रोक्तं	वह {नरक जैसा} यहाँ {शूटिंगकाल में भी कर्मेन्द्रियों का द्वैतवादी} राजसी कहा गया है।

मूढग्राहेण आत्मनः यत् पीडया क्रियते तपः। परस्य उत्सादनार्थं वा तत् तामसं उदाहृतं।। 17/19

यत्तपः मूढग्राहेण आत्मनः पीडया वा परस्य	जो तप मूर्खता के हठ से अपने को पीड़ा देने लिए अथवा अन्य को
उत्सादनार्थं क्रियते तत्तामसं उदाहृतं	हानि देने लिए किया जाए- वह तामसी {पापी कलियुगी तप} कहा जाता है।

दातव्यं इति यत् दानं दीयते अनुपकारिणे। देशे काले च पात्रे च तत् दानं सात्त्विकं स्मृतं।। 17/20

दातव्यं इति यत् दानं	{पुनर्जन्म की सत्य सनातनी मान्यता में} देना ही कर्तव्य है- ऐसा {समझ} जो दान {बदले में}
अनुपकारिणे देशे च काले	{वर्तमान संगमयुगी जन्म में} उपकार करने में असमर्थ, {दुकालग्रस्त} देश और काल में {जरूरतमंद}
पात्रे दीयते तत् दानं सात्त्विकं स्मृतं	सत्पात्र को {पुरुषार्थ में सहयोगार्थ} दिया जाता है, वह दान सात्विक माना गया है;

यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलं उद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्लिष्टं तत् दानं राजसं स्मृतं।। 17/21

तु प्रत्युपकारार्थं वा	किंतु बदले में उपकार की भावना से {इसी पु. संगमयुगी जन्म में मिले-ऐसे} अथवा
पुनः फलं उद्दिश्य यत् दानं	{उसी जन्म में} फिर से फल की आशा लेकर जो दान {देहभान के दैत्यभाव से या द्वैतभाव से}
परिक्लिष्टं दीयते तत् राजसं स्मृतं	कष्टपूर्वक {परायेपन से} दिया जाता है, वह {स्वार्थभाव का} राजसी माना गया है।

अदेशकाले यत् दानं अपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतं अवज्ञातं तत् तामसं उदाहृतं।। 17/22

यत् दानं अदेशकाले च अपात्रेभ्यः	जो दान अयोग्य देश-काल में और {नास्तिकों-जैसे} अयोग्य पात्र को
असत्कृतं अवज्ञातं दीयते तत्तामसं उदाहृतं	असम्मानपूर्वक, अवज्ञापूर्वक दिया जाता है, वह तामसी कहा गया है।

[23-28 ॐ तत्सत् के प्रयोग की व्याख्या]

ॐ तत् सत् इति निर्देशो ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणाः तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।। 17/23

ॐ तत्सदिति त्रिविधः ब्रह्मणः निर्देशः	'ॐ तत् सत्'- ऐसे 3 प्रकार का {महत्=परम} ब्रह्मा का उपदेश {अध्यादेश}
स्मृतः तेन पुरा ब्राह्मणाः च	{अंदर से} स्मरण किया जाता है, उससे पूर्वकल्प में {रुद्राक्षरूप पितरगण चोटी के} ब्राह्मणों और
वेदाः च	{नं.वार} वेदों के {ज्ञान की सम्पूर्ण एडवांस व्याख्या} और {'सत्'=सत्कर्मरूप अविनाशी रुद्र की}
यज्ञाः विहिताः	{अलौकिक पुरुषोत्तम संगमयुगी} यज्ञ-सेवाओं {अर्थात् 'ॐ+तत्+सत्'} का ऐसा विधान किया गया था।

तस्मात् ओम् इति उदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः। प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनां।। 17/24

तस्मात् विधानोक्ताः ब्रह्म	इसलिए {पुरुषोत्तम संगमयुग में} सच्ची गीता- संविधानोक्त चौमुखी ब्रह्मा के {मुख का}
वादिनां यज्ञदानतपःक्रियाः	{त्रिगुणात्मक} उपदेश बोलने वालों की यज्ञ-दान-तप {सम्बंधी सभी अलौकिक} क्रियाएँ
ॐ इत्युदाहृत्य सततं प्रवर्तन्ते	'ओम्'- ऐसा बोलकर {द्वापुर-कलियुग में भी सदा} सर्वदा आरंभ की जाती हैं।

तत् इति अनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः। दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।। 17/25

तत् इति	{वर्तमान अविनाशी अश्वमेध रुद्र-ज्ञानयज्ञ रूप परमात्मा प्रति} 'तत्' ऐसा {समझ या कभी-2 कोई कहकर}
फलमनभिसंधाय मोक्षकांक्षिभिः	फल को न चाहते हुए मुक्ति-आकांक्षियों द्वारा {पुरुषोत्तम संगम में तो नौ कुरियों की}
विविधाः यज्ञतपःक्रियाः च	{विधिसम्मत/वेद-वर्णित} विविध यज्ञ-सेवाएँ {और आत्मस्मृति के} तप की क्रियाएँ और
दानक्रियाः क्रियन्ते	{तनधनादि} दान-कार्य {एक शिवबाबा की श्रीमत से मौन होकर ही} किए जाते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सत् इति एतत् प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सत् शब्दः पार्थ युज्यते।। 17/26

सद्भावे च साधुभावे सदिति	{कल्याणकारी} सद्भाव और अच्छाई के अर्थ में {परंब्रह्मामुख-वंशियों द्वारा} 'सत्' ऐसा
एतत् प्रयुज्यते तथा पार्थ	यह शब्द {स्थिर मनसा द्वारा ही} प्रयोग होता है। ऐसे ही हे पार्थ! {अलौकिक और}
प्रशस्ते कर्मणि सत् शब्दः युज्यते	प्रशंसनीय {यज्ञसेवा} कर्म में 'सत्' शब्द {ही सदा सत्कर्म के आधार से} प्रयोग होता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सत् इति च उच्यते। कर्म चैव तदर्थीयं सत् इति एव अभिधीयते।। 17/27

च यज्ञे तपसि च दाने स्थितिः	तथा यज्ञसेवा में, आत्मस्मृति के तप में & {ज्ञानादिक} दान में {मन की} स्थिरता
सत् इति उच्यते च एव तदर्थीयं	{सदा} 'सत्' ऐसे कहते हैं। इसी प्रकार {पु. संगम के} उस {यज्ञ की सेवा} के लिए
कर्म एव सत् इति अभिधीयते	कर्म भी 'सदासत्'- ऐसे कहते हैं। {द्वापुर-कलि की नहीं, पु. संगम की ही बात है।}

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपः तप्तं कृतं च यत्। असत् इति उच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह।। 17/28

पार्थ अश्रद्धया हुतं दत्तं तप्तं तपः	हे पृथ्वीराज! अश्रद्धापूर्वक यज्ञसेवा, दान, {देह के कष्टों भरे} तापदाई तप
च यत्कृतं असदिति उच्यते	और जो {अच्छा भी} कर्म किया 'असत्' ऐसे कहा है; {•श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं (गीता 4-39)}
तत् न प्रेत्य च नो इह	{अश्रद्धालु का} वह {तप-दानादि} न मरकर और न इस {असार} संसार में {फलदायी} है।

•{गीता में अश्रद्धाभावना वालों का और भी देखें:-3/31; 6/47; 12/2; 12/20; 17/3; 17/13; 17/17; और 18/71}